

## Chapter बीस

### शुद्ध भक्ति ज्ञान एवं वैराग्य से आगे निकल जाती है

इस अध्याय में कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की विधियों का वर्णन व्यक्ति विशेष में अच्छे तथा बुरे गुणों की उपस्थिति के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

वैदिक शास्त्र भगवान् के आदेश को व्यक्त करने वाले शब्द हैं। इन वैदिक ग्रंथों में द्वैत का स्वरूप बतलाया गया है, जो वर्णाश्रम प्रणाली जैसी विचारधारा पर आधारित है। उसी के साथ साथ वेद इस द्वैतदृष्टि का बहिष्कार करते हैं। उद्धव ने यह जानने के लिए कि शास्त्रों में ऐसे विरोधी विचार क्यों हैं और इनका निराकरण कैसे किया जा सकता है, भगवान् कृष्ण से जिज्ञासा प्रकट की। उत्तर में भगवान् ने बतलाया कि वेद मोक्ष-प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की विधियों का वर्णन करते हैं। *कर्म-योग* उन लोगों के लिए है, जो विरक्त नहीं हैं और स्थूल इच्छाओं से परिपूर्ण हैं। *ज्ञान-योग* उनके लिए है, जो कर्मफल से विरक्त होकर भौतिक प्रयत्न करना छोड़ देते हैं। *भक्ति-योग* उन लोगों के लिए है जिन्होंने *युक्तवैराग्य* अर्थात् उपयुक्त त्याग ग्रहण कर रखा है। जब तक मनुष्य अपने कर्म का फल भोगने से अरुचि नहीं दिखाता अथवा जब तक भक्ति-मार्ग में भगवान् की वार्ताओं में श्रद्धा नहीं उत्पन्न हो जाती, तब तक उसे अपने सारे कर्तव्य पूरे करने चाहिए। किन्तु वैरागी को, न ही भगवद्भक्त को, अनुष्ठान करने की आवश्यकता रहती है।

वे व्यक्ति जो अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, जो निषिद्ध का परित्याग कर देते हैं और जो लोभ तथा अन्य अस्वस्थ लक्षणों से मुक्त हो लेते हैं, वे या तो अद्वैतवादी ज्ञान प्राप्त करते हैं या यदि भाग्यवान हुए तो भगवद्भक्ति प्राप्त करते हैं। ऐसा ज्ञान तथा ऐसी भक्ति इसी मनुष्य-जीवन में प्राप्त की जा सकती है, अतएव नरक में रहने वालों तथा देवताओं दोनों के लिए ही अभीष्ट है। यद्यपि मनुष्य-

शरीर ज्ञान तथा भक्ति के रूप में जीवन के सारे उद्देश्य को प्रदान करता है, किन्तु वह नश्वर है। अतएव जो विवेकवान है उसे मृत्यु आने के पूर्व मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य-शरीर नाव के तुल्य है। श्री गुरुदेव कर्णधार हैं और भगवत्कृपा अनुकूल हवा है। यदि मनुष्य शरीररूपी ऐसी दुर्लभ नाव प्राप्त करके, भव-सागर को पार करने की इच्छा नहीं करता, तो वह मनुष्य आत्महन्ता है। मन चंचल है किन्तु इसे सदा ही मनमानी करने की छूट नहीं देनी चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को जीतना चाहिए और सतोगुण से सम्पन्न बुद्धि के द्वारा, मन को वश में लाना चाहिए।

जब तक मन पूरी तरह स्थिर न हो जाय, मनुष्य को चाहिए कि सभी वस्तुओं की सृष्टि के विषय में सूक्ष्म से स्थूल और उनके विनाश के विषय में उलट कर स्थूल से सूक्ष्म का क्रम से ध्यान करे। जिसे विरक्ति तथा वैराग्य का ज्ञान है, वह अपने गुरु से निरन्तर उपदेश पाकर शरीर तथा अन्य इन्द्रिय-विषयों के साथ अपनी झूठी पहचान त्याग सकता है। यम, नियम तथा अन्य योगाभ्यासों से, दिव्य ज्ञान के अनुशीलन से तथा भगवान् की पूजा तथा ध्यान से, परमात्मा का स्मरण किया जा सकता है।

गुण का अर्थ है अपनी योग्यता के विशिष्ट पद के लक्ष्य पर दृढ़ रहना। अच्छे तथा बुरे के विषय में आदेशों का अनुसरण करते हुए, संचित भौतिक संगति का बहिष्कार करने की इच्छा रखने से, उसके सारे अशुभ भौतिक कर्म कम हो जाते हैं। भगवद्भक्ति से सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जो व्यक्ति निरन्तर भक्ति द्वारा भगवान् की सेवा करता है, वह अपने मन को भगवान् पर स्थिर कर लेता है और इस तरह उसके हृदय के भीतर आस जमाये हुई इन्द्रियतृप्ति की सारी इच्छाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं। जब वह भगवान् की उपस्थिति का स्वयं अनुभव करता है, तो उसका मिथ्या अहंकार समूल नष्ट हो जाता है। उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और ढेर के ढेर भौतिक कार्यकलाप शून्य बन जाते हैं। इसी कारण भगवद्भक्त ज्ञान तथा वैराग्य को सर्वोच्च लाभ प्राप्त करने का साधन नहीं मानते। भगवद्भक्ति उसी के हृदय में उत्पन्न होती है, जिसका हृदय भौतिक इच्छा से रहित होता है और जिसे भौतिक वस्तुओं में रुचि नहीं होती। अनुष्ठान सम्बन्धी आदेशों तथा निषेधों से उत्पन्न शुद्धता एवं अशुद्धता को अनन्य सच्चे भगवद्भक्तों पर लागू नहीं किया जा सकता।

श्रीऋद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।

अवेक्षतेऽरविण्डाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; विधिः—आदेश; च—भी; प्रतिषेधः—निषेधात्मक आदेश; च—तथा; निगमः—वैदिक वाङ्मय; हि—निस्सन्देह; ईश्वरस्य—भगवान् का; ते—तुम्हारा; अवेक्षते—एकाग्र करता है; अरविण्ड-अक्ष—हे कमलनयन; गुणम्—उत्तम या पवित्र गुण; दोषम्—बुरे या पापपूर्ण गुण; च—भी; कर्मणाम्—कर्मों के।

श्री उद्धव ने कहा : हे कमलनयन कृष्ण, आप भगवान् हैं और इस तरह विधियों तथा निषेधों से युक्त वैदिक वाङ्मय आपका आदेश है। ऐसा वाङ्मय कर्म के गुण तथा दोषों पर ध्यान एकाग्र करता है।

तात्पर्य : पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् कृष्ण ने कहा : गुण दोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः—भौतिक पुण्य तथा पाप पर ध्यान एकाग्र करना स्वयं दोष है क्योंकि वास्तविक पुण्य का अर्थ है दोनों को पार कर जाना। अब श्री उद्धव इसी बात के पीछे लगे हुए हैं जिससे श्रीकृष्ण इस कठिन विषय की विशद व्याख्या करें। यहाँ पर श्री उद्धव कहते हैं कि ईश्वरीय नियमों से युक्त वैदिक वाङ्मय पाप-पुण्य का विवरण देते हैं, अतएव इसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए कि वेदों द्वारा संस्तुत कर्मों के पार कैसे जाया जाय? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कृष्ण द्वारा कहे गये वचनों का उद्देश्य उद्धव की समझ में सहसा आ गया और भगवान् को इस रोचक विषय पर विस्तार से बताने के लिए उकसाकर, उद्धव ने बाह्य रूप से भगवान् के कथन को चुनौती दी।

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।

द्रव्यदेशवयःकालान्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; विकल्पम्—पाप-पुण्य से उत्पन्न नाना प्रकार के उच्च तथा निम्न पद; च—तथा; प्रतिलोम—ऐसे परिवार में जन्म जिसमें पिता माता से निम्न कुल का होता है; अनुलोम-जम्—ऐसे परिवार में जन्म जिसमें पिता उच्च कुल का और माता निम्न कुल की हो; द्रव्य—भौतिक वस्तुएँ या धन; देश—स्थान; वयः—आयु; कालान्—समय; स्वर्गम्—स्वर्ग; नरकम्—नरक; एव—निस्सन्देह; च—भी।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार, वर्णाश्रम में उच्च तथा निम्न कोटियाँ परिवार-नियोजन के पवित्र और पापमय गुणों के कारण हैं। इस प्रकार पाप तथा पुण्य किसी स्थिति विशेष में यथा भौतिक अवयव, स्थान, आयु तथा काल में, वैदिक विश्लेषण के सन्दर्भ बिन्दु हैं। निस्सन्देह, वेदों से भौतिक स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व प्रकट होते हैं, जो निश्चित रूप से पाप तथा पुण्य पर आधारित हैं।

**तात्पर्य :** प्रतिलोम सूचक है कुलीन पत्नी और निम्न पुरुष के संयोग का। उदाहरणार्थ, वैदेहक जाति के लोग शूद्र पिता तथा ब्राह्मण माता से उत्पन्न होते हैं जबकि सूत वे हैं, जो क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता या शूद्र पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न होते हैं। अनुलोम सूचक है कुलीन पिता तथा निम्न जाति की माता से उत्पन्न लोगों का। मूर्धावसिक्त लोग वे हैं, जो ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न हैं। अम्बष्ठ लोग ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न हैं। ये प्रायः चिकित्सक होते हैं। करण सूचक है वैश्य पिता तथा शूद्र माता से या क्षत्रिय पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान का। जातियों का ऐसा मिश्रण वैदिक संस्कृति में अच्छा नहीं माना जाता था, इसका निरूपण भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में हुआ है। अर्जुन को चिन्ता थी कि युद्धक्षेत्र में इतने क्षत्रियों की मृत्यु से कुलीन स्त्रियाँ निम्न जातीय पुरुषों से मिलेंगी। इसी आधार पर वह लड़ने से इनकार कर रहा था। जो भी हो, सम्पूर्ण वैदिक सामाजिक प्रणाली पाप और पुण्य के भेदभाव पर आश्रित है और श्री उद्धव भगवान् को प्रोत्साहित कर रहे हैं कि वे अपने इस कथन की विस्तृत व्याख्या करें कि, “मनुष्य को पाप तथा पुण्य को लाँघ जाना चाहिए।”

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।

निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गुण—पुण्य; दोष—पाप; भिदा—दोनों में भेद; दृष्टिम्—देखे; अन्तरेण—के बिना; वचः—शब्द; तव—तुम्हारा; निःश्रेयसम्—जीवन की सिद्धि, मोक्ष; कथम्—कैसे सम्भव; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; निषेध—वर्जन; विधि—आदेश; लक्षणम्—लक्षण से युक्त।

पाप तथा पुण्य के बीच के अन्तर को देखे बिना भला कोई किस तरह आपके उन आदेशों को जो कि वैदिक वाङ्मय के रूप में हैं, समझ सकता है, जो मनुष्य को पुण्य करने का आदेश देते हैं और पाप करने से मना करते हैं? इतना ही नहीं, अन्ततोगत्वा मोक्ष प्रदान करने वाले ऐसे प्रामाणिक वैदिक वाङ्मय के बिना, मनुष्य किस तरह जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं?

**तात्पर्य :** यदि कोई पुण्यकर्म करने और पापकर्म से बचने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता, तो प्रामाणिक धर्म-शास्त्रों को समझना कठिन हो जाता है। और ऐसे शास्त्रों के बिना मनुष्य मोक्ष कैसे पा सकते हैं? श्री उद्धव के प्रश्न का यही सारांश है।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।  
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पितृ—पितरों के; देव—देवताओं के; मनुष्याणाम्—मनुष्यों के; वेदः—वैदिक ज्ञान; चक्षुः—आँख है; तव—आपसे उत्पन्न;  
ईश्वर—हे परमेश्वर; श्रेयः—श्रेष्ठ; तु—निस्सन्देह; अनुपलब्धे—प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर; अर्थे—मानव-जीवन के लक्ष्य यथा  
इन्द्रियतृप्ति, मोक्ष, स्वर्ग-प्राप्ति में; साध्य-साधनयोः—कार्य-कारण दोनों में; अपि—निस्सन्देह।

हे प्रभु, प्रत्यक्ष अनुभव से परे वस्तुओं को—यथा आध्यात्मिक मोक्ष या स्वर्ग-प्राप्ति तथा अन्य भौतिक भोग जो हमारी वर्तमान क्षमता से परे हैं—समझने के लिए तथा सामान्यतया सभी वस्तुओं के साध्य-साधन को समझने के लिए, पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों को आपके नियम रूप वैदिक वाङ्मय की सलाह लेनी चाहिए क्योंकि ये सर्वोच्च प्रमाण तथा ईश्वरी ज्ञान हैं।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि मनुष्य तो मूर्खता कर सकते हैं, किन्तु उच्च पद पर स्थित पितरगण तथा देवताओं को ब्रह्माण्ड के विषयों में सर्वज्ञ माना जाता है। यदि ऐसे श्रेष्ठ प्राणी पृथ्वी से संचार स्थापित करने लगें, तो हर व्यक्ति वैदिक ज्ञान को एक तरफ छोड़ कर अपनी इच्छा पूरी कर लेगा। यहाँ इस विचार से वेदश्चक्षुः शब्दों के द्वारा इनकार किया गया है। देवताओं तथा पितरों तक को परम मोक्ष की द्वन्द्वात्मक धारणा है और भौतिक मामलों में तो वे व्यक्तिगत हताशा से प्रभावित होते हैं। यद्यपि देवतागण निम्न योनियों को, यथा मनुष्यों को भौतिक वर देने में सक्षम हैं, किन्तु कभी कभी इन्द्रियतृप्ति की उनकी व्यक्तिगत योजनाएँ विफल हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, एक धनी व्यापारी अपने अनेक कर्मियों को तुच्छ वेतन देने में कठिनाई का अनुभव नहीं करता किन्तु यही व्यापारी अपने परिवार तथा मित्रों के साथ अपने व्यवहार से सर्वथा निराश हो सकता है और अपनी सम्पत्ति को अधिक निवेश द्वारा बढ़ाने के प्रयास में असफल हो सकता है। यद्यपि धनी व्यक्ति अपने अधीन कर्मियों को सर्वशक्तिसम्पन्न प्रतीत होता है, किन्तु अपनी निजी इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसे स्वयं संघर्ष करना पड़ता है। इसी तरह देवताओं तथा पितरों को अपना स्वर्गिक जीवन-स्तर बनाये रखने तथा विस्तार करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसलिए उन्हें निरन्तर श्रेष्ठ वैदिक ज्ञान की शरण में जाना पड़ता है। यहाँ तक कि विश्व के मामलों के प्रशासन में भी वे वेदों के दिशा निर्देशों का ही पालन करते हैं क्योंकि वे ईश्वर के नियम हैं। यदि देवता जैसे काल्पनिक प्राणियों को वेदों की शरण लेनी पड़ती है, तो जरा उन मनुष्यों की स्थिति की कल्पना करें जो अपने जीवन के हर पग पर कुण्ठित रहते हैं। हर मनुष्य को भौतिक तथा आध्यात्मिक मामलों में वैदिक ज्ञान

को सर्वोच्च प्रमाण मानना चाहिए। उद्धव भगवान् को यह बताते हैं कि यदि वैदिक ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया जाता है, तो भौतिक पाप तथा पुण्य की संकल्पना को बहिष्कृत कर पाना असम्भव दिखता है। इस तरह उद्धव पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् के विवादपूर्ण कथन की पुनः परीक्षा करने पर अड़े हुए हैं।

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः ।

निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गुण—पुण्य; दोष—पाप; भिदा—अन्तर; दृष्टिः—देखना; निगमात्—वैदिक ज्ञान से; ते—तुम्हारा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; स्वतः—स्वयमेव; निगमेन—वेदों से; अपवादः—निरस्तीकरण; च—भी; भिदायाः—ऐसे भेद का; इति—इस प्रकार; ह—स्पष्टतः; भ्रमः—भ्रम, संशय।

हे प्रभु, पाप तथा पुण्य में दिखाई पड़ने वाला अन्तर आपके ही वैदिक ज्ञान से उत्पन्न होता है और वह स्वयमेव उत्पन्न नहीं होता। यदि वही वैदिक वाङ्मय बाद में पाप तथा पुण्य के ऐसे अन्तर को निरस्त कर दे, तो निश्चित रूप से भ्रम उत्पन्न होगा।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—सारे वेदों से मुझे जाना जाता है। निस्सन्देह, मैं वेदान्त का संकलनकर्ता और मैं वेदों को उसी रूप में जानता हूँ—वैदिक ज्ञान भगवान् के श्वास लेने से उत्पन्न होता है अतएव भगवान् कृष्ण जो भी बोलते हैं वह वेद या पूर्ण ज्ञान है। वैदिक वाङ्मय पाप-पुण्य के वर्णनों से परिपूर्ण हैं, किन्तु कृष्ण का यह कथन भी कि पाप तथा पुण्य को लाँघ जाना चाहिए, वैदिक ज्ञान है। श्री उद्धव यह बात समझ चुके थे, इसीलिए वे भगवान् से अनुरोध करते हैं कि ऊपर से दिखने वाले इस विरोधाभास को स्पष्ट कर दें। अन्ततोगत्वा, भौतिक जगत जीवों को उनकी विकृत इच्छाओं को तुष्ट करने का अवसर प्रदान करता है और उसी के साथ साथ भगवद्धाम वापस जाकर धीरे धीरे मोक्ष प्राप्त करने का भी। इस तरह भौतिक पुण्य को साधन मानना चाहिए, परम साध्य नहीं क्योंकि भौतिक जगत स्वयं नश्वर तथा सीमित है, पूर्ण नहीं। भगवान् स्वयं गुण तथा अच्छाई के आगार हैं। वे व्यक्ति तथा कार्य जो भगवान् को प्रसन्न करते हैं पुण्यात्मा तथा जो उन्हें रुष्ट करते हैं पापपूर्ण माने जाते हैं। इन शब्दों की कोई अन्य स्थायी परिभाषा नहीं दी जा सकती। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को भुलाकर संसारी नैतिकतावादी बन जाता है, तो उसकी स्थिति निश्चय ही अपूर्ण है और उसे पुण्य का चरम लक्ष्य—भगवद्धाम जाना—प्राप्त नहीं हो

सकेगा। दूसरी ओर, नैतिकतावादियों को भय है कि यदि पाप-पुण्य के भेद को कम कर दिया जायेगा, तो लोग ईश्वर के नाम पर अनेक अत्याचार करते रहेंगे। आधुनिक जगत में आध्यात्मिक सत्ता की स्पष्ट जानकारी नहीं है और नैतिकतावादी व्यक्ति नैतिकता का उल्लंघन करने की किसी अपील को धर्मान्धता, अराजकता, हिंसा तथा व्यभिचार मानते हैं। इस तरह वे भगवान् को प्रसन्न करने की अपेक्षा नैतिक सिद्धान्तों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। चूँकि यह बात विवादास्पद है, अतएव उद्धव उत्सुकतापूर्वक भगवान् से अनुरोध कर रहे हैं कि वे स्पष्ट व्याख्या करें।

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगाः—विधियाँ; त्रयः—तीन; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्ताः—कही गई; नृणाम्—मनुष्यों के; श्रेयः—सिद्धि; विधित्सया—देने की इच्छा से; ज्ञानम्—दर्शन का मार्ग; कर्म—कर्म का मार्ग; च—भी; भक्तिः—भक्ति-मार्ग; च—भी; न—कोई नहीं; उपायः—उपाय, साधन; अन्यः—अन्य; अस्ति—है; कुत्रचित्—जो भी।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, चूँकि मेरी इच्छा है कि मनुष्य सिद्धि प्राप्त करे, अतएव मैंने प्रगति के तीन मार्ग प्रस्तुत किये हैं—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। इन तीनों के अतिरिक्त ऊपर उठने का अन्य कोई साधन नहीं है।

तात्पर्य : अन्ततोगत्वा दार्शनिक चिन्तन, पवित्र नियमित कर्म तथा भक्ति का लक्ष्य एक—कृष्णभावनामृत—है। जैसाकि भगवद्गीता (४.११) में भगवान् ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

“जो जिस भाव से मेरी शरण ग्रहण करते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।” यद्यपि मानव-सिद्धि की सभी प्रामाणिक विधियाँ अन्ततः कृष्णभावनामृत में या ईश्वर-प्रेम में जाकर समाप्त होती हैं, किन्तु विभिन्न कर्मियों की अपनी अपनी मनोवृत्तियाँ तथा योग्यताएँ होती हैं और उनका आकर्षण आत्म-साक्षात्कार की विभिन्न विधियों में होता है। भगवान् कृष्ण यहाँ पर तीनों विधियों का एकसाथ वर्णन यह बताने के लिए कर रहे हैं कि उनका चरम लक्ष्य एक है। साथ ही दार्शनिक चिन्तन तथा नियमित पुण्यकार्य को

कभी भी शुद्ध भगवत्प्रेम के तुल्य नहीं माना जा सकता जैसाकि भगवान् ने पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया है। त्रयः शब्द बताता है कि यद्यपि तीनों का उद्देश्य एक है किन्तु प्रगति तथा उपलब्धि के मामले में उनमें विविधता है। मनुष्य को मात्र चिन्तन या पुण्यकर्म द्वारा वही फल नहीं मिल सकता जो भगवान् की शरण ग्रहण करने पर मिलता है किन्तु जो पूर्णतया भगवान् की दया एवं मैत्री पर निर्भर रहता है। कर्म शब्द यहाँ पर भगवान् को अर्पित कर्म का सूचक है। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.९) में वर्णन हुआ है—

*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।*

*तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥*

“श्री विष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत में बन्धन उत्पन्न होता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।” ज्ञानयोग में मनुष्य भगवान् के चमकीले तेज में लीन होकर निर्विशेष मोक्ष की खोज करता है। किन्तु भक्तगण ऐसे मोक्ष को नारकीय मानते हैं क्योंकि लीन होने से मनुष्य भगवान् के परम आनन्दमय स्वरूप के प्रति अपनी भिन्नता को खो देता है। कर्मीजन मोक्ष के अतिरिक्त मानव प्रगति के तीन पक्षों की—धार्मिकता, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की खोज करते हैं। कर्मीजन सोचते हैं कि वे अपनी असंख्य इच्छाओं को समाप्त कर लेने पर संसाररूपी अंधेरी सुरंग से आध्यात्मिक मोक्ष के प्रकाश में प्रवेश करेंगे। यह विधि अत्यन्त घातक है तथा अनिश्चित है क्योंकि भौतिक इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है, किन्तु नियमित कर्म-योग में किंचित त्रुटि होने से भी पाप होता है, जो मनुष्य को उन्नति के मार्ग से बाहर फेंक देता है। भक्तों का लक्ष्य भगवत्प्रेम होता है अतएव वे भगवान् को सर्वाधिक प्रिय लगने वाले होते हैं। जो भी हो, वैदिक उन्नति के तीनों विभाग भगवान् कृष्ण की दया पर निर्भर करते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के आशीर्वाद के बिना इन मार्गों पर प्रगति नहीं कर सकता। अन्य वैदिक विधियाँ यथा तपस्या, दान इत्यादि यहाँ पर वर्णित तीन मुख्य विभागों में ही सम्मिलित हैं।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।



तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

निर्विण्णानाम्—ऊबे हुए; ज्ञान-योग:—दार्शनिक चिन्तन का मार्ग; न्यासिनाम्—विरक्तों के लिए; इह—तीनों मार्गों में; कर्मसु—सामान्य कर्म में; तेषु—इन कर्मों में; अनिर्विण्ण—ऊबे नहीं है; चित्तानाम्—चेतनायुक्त; कर्म-योग:—कर्म-योग का मार्ग; तु—निस्सन्देह; कामिनाम्—जो अब भी भौतिक सुख चाहते हैं, उनके लिए।

तीनों मार्गों में से ज्ञान-योग अर्थात् दार्शनिक चिन्तन का मार्ग उन लोगों के लिए संस्तुत किया जाता है, जो भौतिक जीवन से ऊब चुके हैं और सामान्य सकाम कर्मों से विरक्त हैं। जो लोग भौतिक जीवन से ऊबे नहीं हैं और जिन्हें अब भी अनेक इच्छाएँ पूरी करनी हैं, उन्हें कर्म-योग के माध्यम से मोक्ष की खोज करनी चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् उन विभिन्न मनोवृत्तियों को बतलाते हैं जिनसे मनुष्य सिद्धि की विभिन्न विधियाँ अपनाते हैं। जो समाज, मैत्री तथा प्रेम के सामान्य भौतिक जीवन में कुण्ठित या निराश रहते हैं और जो यह समझते हैं कि स्वर्ग जाने से अधिक भौतिक कष्ट मिलते हैं, वे ज्ञान-मार्ग का सीधा मार्ग ग्रहण करते हैं। वे प्रामाणिक दार्शनिक विवेक से भव-बन्धन को लाँघ जाते हैं। जो लोग इतने पर भी भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम का भोग करने के इच्छुक रहते हैं और जो लोग अपने सम्बन्धियों सहित स्वर्ग जाने की सम्भावना से उत्तेजित रहते हैं, वे कठिन दार्शनिक प्रगति के मार्ग को सीधे ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि इसमें महान् तपस्या की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्तियों को पारिवारिक जीवन में रहते रहने तथा अपने कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित करने की सलाह दी जाती है। इस तरह वे भी सिद्ध बन सकते हैं और धीरे धीरे भौतिक जीवन से विरक्त होना सीख सकते हैं।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—सौभाग्यवश किसी तरह से; मत्-कथा-आदौ—मेरी महिमा का वर्णन करने वाली कथाओं, गीतों, दर्शन तथा नाटकीय प्रदर्शनों में; जात—जागृत किया हुआ; श्रद्धः—श्रद्धा; तु—निस्सन्देह; यः—जो कोई; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; निर्विण्णः—ऊबा हुआ; न—नहीं; अति-सक्तः—अत्यन्त आसक्त; भक्ति-योगः—प्रेमाभक्ति का मार्ग; अस्य—उसका; सिद्धि-दः—सिद्धि देने वाला।

यदि कहीं कोई सौभाग्यवश मेरी महिमा के सुनने तथा कीर्तन करने में श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, तो ऐसे व्यक्ति को जो भौतिक जीवन से न तो अत्यधिक ऊबा रहता है न आसक्त रहता है मेरी प्रेमाभक्ति के मार्ग द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।

**तात्पर्य :** यदि किसी तरह से किसी को भगवद्भक्तों की संगति प्राप्त हो जाती है और वह उनसे भगवान् कृष्ण का दिव्य संदेश सुनता है, तो वह भगवान् का भक्त बन सकता है। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, जो लोग भौतिक जीवन से ऊब जाते हैं, वे निर्विशेषवादी दार्शनिक चिन्तन करने लगते हैं और साकार अस्तित्व के प्रत्येक चिह्न का परित्याग करने का कठोरता से प्रयास करने लगते हैं। जो लोग अब भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं, वे अपने सामान्य कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित करके अपने को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्ति का उत्तम अभ्यर्थी न तो भौतिक जीवन से पूरी तरह ऊबा रहता है न आसक्त रहता है। वह सामान्य जीवन को और अधिक काल तक नहीं बिताना चाहता, क्योंकि यह असली सुख प्रदान नहीं कर सकता। फिर भी भक्ति का अभ्यर्थी अपने निजी जीवन को पूर्ण बनाने की आशा नहीं त्यागता। जो व्यक्ति भौतिक आसक्ति तथा भौतिक आसक्ति के प्रति निर्विशेष प्रतिक्रिया इन दो छोरों से बचता है और जो किसी न किसी तरह से शुद्ध भक्तों की संगति पा लेता है और उनके सन्देश को श्रद्धापूर्वक सुनता है, वह भगवद्धाम जाने के लिए उत्तम अभ्यर्थी है, जैसाकि भगवान् ने यहाँ बताया है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तावत्—उस समय तक; कर्माणि—सकाम कर्म; कुर्वीत—सम्पन्न करे; न निर्विद्येत—तृप्त नहीं होता; यावता—जब तक; मत्-कथा—मेरे विषय में वार्ताओं का; श्रवण-आदौ—श्रवणम् कीर्तनम् आदि के मामले में; वा—अथवा; श्रद्धा—श्रद्धा; यावत्—जब तक; न—नहीं; जायते—जागृत होती है।

जब तक मनुष्य सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता और *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* द्वारा भक्ति के लिए रुचि जागृत नहीं कर लेता, तब तक उसे वैदिक आदेशों के विधानों के अनुसार कर्म करना होता है।

**तात्पर्य :** जब तक मनुष्य शुद्ध भक्तों की संगति द्वारा भगवान् कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न न कर ले और इस तरह पूरे समय भगवान् की भक्ति में लगा न रहे, तब तक उसे सामान्य वैदिक सिद्धान्तों तथा कर्तव्यों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। स्वयं भगवान् ने कहा है—

*श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते ।*

*आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥*

“श्रुति तथा स्मृति ग्रन्थों को मेरे ही आदेश मानना चाहिए। जो इन संहिताओं का उल्लंघन करता है, वह मेरी इच्छा का उल्लंघन करता समझा जाता है और इस तरह वह मेरा विरोध करता है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति अपने को मेरा भक्त बतलाता है, किन्तु वास्तव में वह वैष्णव नहीं होता।” भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि जब तक कोई व्यक्ति कीर्तन तथा श्रवण-विधि में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर लेता, तब तक उसे वैदिक वाङ्मय के सामान्य आदेशों का पालन करना चाहिए। ऐसे अनेक लक्षण हैं जिनसे मनुष्य भगवान् के उच्च भक्त को पहचान सकता है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध (१.२.७) में कहा गया है—

*वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।*

*जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥*

जो व्यक्ति सचमुच ही उच्च भक्ति में लगा होता है, वह तुरन्त ही कृष्णभावनामृत का स्पष्ट ज्ञान तथा अभक्तिमय कार्यों से विरक्ति—इन दोनों को ही उत्पन्न कर लेता है। जो इस पद को प्राप्त नहीं हुआ रहता, उसे या तो वैदिक वाङ्मय के सामान्य आदेशों का पालन करना चाहिए या फिर भगवान् का शत्रु बनने का खतरा मोल लेना चाहिए। दूसरी ओर, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है, वह ऐसी कोई बात करने से हिचकिचाता नहीं जिससे भगवान् का मिशन आगे बढ़े। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध (११.५.४१) में कहा गया है—

*देवर्षि भूताप्तनणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।*

*सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥*

“जिसने भी समस्त प्रकार के कर्तव्यों को त्याग कर मुक्तिदाता मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ले ली है और इस मार्ग को गम्भीरता के साथ ग्रहण किया है, वह देवताओं, मुनियों, सामान्य जीवों, पारिवारिक जनों, मनुष्यों या पितरों के प्रति ऋणी नहीं रहता।”

इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि जब कोई व्यक्ति पूरी तरह कृष्ण की शरण में जाता है, तो वह भगवान् के इस वचन का आश्रय लेता है कि वे शरणागत के अन्य सारे उत्तरदायित्वों तथा ऋणों को समाप्त कर देंगे। इस तरह भगवान् के रक्षा के वचन पर ध्यान करते हुए वह निडर बन जाता है। किन्तु जो लोग भौतिक रूप से आसक्त हैं, वे भगवान् की पूर्ण शरणागति के विचार से डरे

रहते हैं और इस तरह वे भगवान् के प्रति अपने वैमनस्य को प्रकट करते हैं।

स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।  
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्यों में; स्थः—स्थित; यजन्—पूजा करते हुए; यज्ञैः—नियत यज्ञों से; अनाशीः—कामः—कर्मफल की इच्छा न रखते हुए; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; याति—जाता है; स्वर्ग—स्वर्ग; नरकौ—या नरक में; यदि—यदि; अन्यत्—अपने नियत कर्तव्य के अतिरिक्त कुछ; न—नहीं; समाचरेत्—सम्पन्न करता है।

हे उद्धव, जो व्यक्ति वैदिक यज्ञों द्वारा समुचित पूजा करके, किन्तु ऐसी पूजा का फल न चाह कर, अपने नियत कर्तव्य में स्थित रहता है, वह स्वर्गलोक नहीं जाता है; इसी तरह निषिद्ध कार्यों को न करने से वह नरक नहीं जाएगा।

तात्पर्य : यहाँ पर कर्म-योग की सिद्धि का वर्णन हुआ है। जो व्यक्ति अपने धार्मिक कर्मों का पुरस्कार नहीं चाहता, वह स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वर्ग जाकर अपना समय बर्बाद नहीं करता। इसी तरह जो अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता या निषिद्ध कार्य नहीं करता, वह दण्ड पाने के लिए नरक जाने की परवाह नहीं करता। इस तरह पुरस्कारों तथा दण्डों से बचते हुए, ऐसा निष्काम व्यक्ति भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति के पद तक उठ सकता है।

अस्मिल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।  
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन्—इस; लोके—जगत में; वर्तमानः—रहते हुए; स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्य में; स्थः—स्थित; अनघः—पापकर्मों से मुक्त; शुचिः—भौतिक कल्मष से धुला; ज्ञानम्—ज्ञान; विशुद्धम्—दिव्य; आप्नोति—प्राप्त करता है; मत्—मेरी; भक्तिम्—भक्ति; वा—अथवा; यदृच्छया—अपने भाग्य के अनुसार।

जो व्यक्ति अपने नियत कर्म में दृढ़ रहता है, जो पापमय कार्यों से मुक्त होता है और भौतिक कल्मष से रहित होता है, वह इसी जीवन में या तो दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है या दैववश मेरी भक्ति पाता है।

तात्पर्य : अस्मिन् लोके बताता है वर्तमान आयु को। अपने शरीर की मृत्यु के पूर्व मनुष्य दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है या बड़े दैववश परमेश्वर की भक्ति पा सकता है। यदृच्छया शब्द सूचित करता है कि यदि किसी को जैसे तैसे शुद्ध भक्तों का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उनसे श्रद्धापूर्वक सुनता

है, तो वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि कृष्णभावनामृत प्राप्त कर सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार मनुष्य दिव्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, जबकि शुद्ध भक्ति के द्वारा भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है, जिसमें मोक्ष स्वतः सम्मिलित रहता है। ये दोनों ही परिणाम उन सामान्य सकाम कर्मों से श्रेष्ठ होते हैं जिनके द्वारा वह पशुओं के समान वस्तुओं का भोग करना चाहता है। यदि किसी की भक्ति सकाम कर्म या मानसिक चिन्तन की प्रवृत्ति से मिश्रित होती है, तो उसे भगवत् प्रेम की निरपेक्ष अवस्था प्राप्त हो सकती है। किन्तु जो लोग एकमात्र कृष्ण की सेवा की ओर उन्मुख होते हैं, वे दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य सम्बन्ध में भगवत्प्रेम की उच्चतर अवस्थाएँ प्राप्त करते हैं।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।

साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्वर्गिणः—स्वर्गलोक के निवासी; अपि—भी; एतम्—यह; इच्छन्ति—चाहते हैं; लोकम्—पृथ्वीलोक; निरयिणः—नरकवासी; तथा—उसी तरह से; साधकम्—उपलब्धि की ओर; ज्ञान-भक्तिभ्याम्—दिव्य ज्ञान तथा भगवत्प्रेम का; उभयम्—दोनों ( स्वर्ग तथा नरक ); तत्—उस सिद्धि के लिए; असाधकम्—उपयोगी नहीं।

स्वर्ग तथा नरक दोनों ही के निवासी पृथ्वीलोक पर मनुष्य का जन्म पाने की आकांक्षा रखते हैं क्योंकि मनुष्य-जीवन दिव्य ज्ञान तथा भगवत्प्रेम की प्राप्ति को सुगम बनाता है, जबकि न तो स्वर्गिक, न ही नारकीय शरीर पूर्णतः ऐसा अवसर सुलभ कराते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि स्वर्ग में मनुष्य असामान्य इन्द्रियतृप्ति में लीन हो जाता है और नरक में वह कष्ट में डूबा रहता है। दोनों ही स्थितियों में दिव्य ज्ञान या भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिए तनिक भी प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस तरह अत्यधिक कष्ट या अत्यधिक भोग आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं।

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेत्रारकीं वा विचक्षणः ।

नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात्प्रमाद्यति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नरः—मनुष्य; स्वः-गतिम्—स्वर्ग जाने की; काङ्क्षेत्—इच्छा करे; नारकीम्—नरक तक; वा—अथवा; विचक्षणः—विद्वान व्यक्ति; न—नहीं; इमम्—यह; लोकम्—पृथ्वीलोक; च—भी; काङ्क्षेत—इच्छा करे; देह—भौतिक शरीर में; आवेशात्—तल्लीनता से; प्रमाद्यति—मूर्ख बनता है।

जो मनुष्य विद्वान हो उसे न तो कभी स्वर्गलोक जाने, न नरक में निवास करने की इच्छा

करनी चाहिए। निस्सन्देह, मनुष्य को तो पृथ्वी पर स्थायी निवास की भी कभी कामना नहीं करनी चाहिए क्योंकि भौतिक देह में ऐसी तल्लीनता से मनुष्य अपने वास्तविक आत्म-हित के प्रति मूर्खतावश उपेक्षा बरतने लगता है।

तात्पर्य : जिसे पृथ्वी पर मानव-जीवन प्राप्त हुआ है उसे कृष्णभावनामृत द्वारा या भगवद्भक्ति द्वारा आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त करने का सर्वोत्तम अवसर मिला रहता है। इसलिए उसे न तो स्वर्ग जाने और न ही नरक में वास करने की कामना करनी चाहिए क्योंकि वहाँ पर अत्यधिक भोग या दण्ड मनुष्य के मन को आत्म-साक्षात्कार से हटा देते हैं। दूसरी ओर, उसे यह नहीं सोचना चाहिए, “पृथ्वी इतनी अच्छी है कि मैं यहाँ सदा सदा रुका रह सकता हूँ।” मनुष्य को सभी प्रकार से भौतिक जगत से विरक्ति उत्पन्न करके भगवद्धाम वापस जाना चाहिए, जहाँ जीवन नित्य तथा आनन्द एवं ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

अब कृष्ण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक मानव प्रगति भौतिक पुण्य तथा पाप से परे है। भगवान् ने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि मानव उन्नति की मूलतः तीन विधियाँ हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति और लक्ष्य है दिव्य ज्ञान तथा अंततः भगवत्प्रेम। अब भगवान् बतलाते हैं कि स्वर्गलोक तक पहुँचना (पुण्य का अन्तिम लक्ष्य) तथा नरक में वास करना (पापपूर्ण कर्मों का फल) दोनों ही जीवन के असली लक्ष्य की पूर्ति में बाधक हैं। न तो भौतिक पुण्य न ही पाप नित्य जीव को उसके स्वाभाविक पद पर स्थापित कर सकते हैं; अतएव वास्तविक जीवन-सिद्धि पाने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता होती है।

एतद्विद्वान्पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।

अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विद्वान्—जानते हुए; पुरा—पहले; मृत्योः—मृत्यु; अभवाय—जगत को लाँघने के लिए; घटेत—कार्य करे; सः—वह; अप्रमत्तः—आलस्य या मूर्खता से रहित; इदम्—यह; ज्ञात्वा—जान कर; मर्त्यम्—मरणशील; अपि—यद्यपि; अर्थ—जीवन-लक्ष्य का; सिद्धि-दम्—सिद्धि देने वाला।

यह जानते हुए कि यद्यपि भौतिक शरीर मर्त्य है, तो भी यह उसे जीवन-सिद्धि प्रदान कर सकता है, विद्वान व्यक्ति को मूर्खतावश मृत्यु आने के पूर्व इस अवसर का लाभ उठाने में उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए।

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।

खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

छिद्यमानम्—काटे जाकर; यमैः—क्रूर पुरुषों द्वारा जो साक्षात् मृत्यु सरीखे हैं; एतैः—इन; कृत-नीडम्—जिसमें उसने घोंसला बना रखा है; वनस्पतिम्—वृक्ष; खगः—पक्षी; स्व-केतम्—उसका घर; उत्सृज्य—त्याग करके; क्षेमम्—सुख; याति—प्राप्त करता है; हि—निस्सन्देह; अलम्पटः—आसक्तिरहित।

जब साक्षात् मृत्यु रूपी क्रूर पुरुषों द्वारा वह वृक्ष काट दिया जाता है, जिसमें किसी पक्षी का घोंसला बना था, तो वह पक्षी बिना किसी आसक्ति के उस वृक्ष को त्याग देता है और इस तरह वह अन्य स्थान में सुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर देहात्म बुद्धि से विरक्ति का उदाहरण दिया गया है। जीव शरीर के भीतर उसी तरह निवास करता है, जिस तरह पक्षी वृक्ष में रहता है। तब विचारहीन व्यक्ति वृक्ष काट डालते हैं, तो पक्षी अपने पिछले घोंसले के लिए शोक न प्रकट करते हुए, अन्य स्थान में अपना निवास बनाने में रंचमात्र नहीं हिचकता।

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः ।

मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहः—दिन; रात्रैः—तथा रातों से; छिद्यमानम्—काटा जाता हुआ; बुद्ध्वा—जान कर; आयुः—उम्र; भय—भय से; वेपथुः—कम्पमान; मुक्त-सङ्गः—आसक्तिरहित; परम्—परमेश्वर; बुद्ध्वा—समझ कर; निरीहः—भौतिक इच्छा से रहित; उपशाम्यति—पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है।

यह जानते हुए कि मेरी आयु दिन-रात बीतने के साथ क्षीण होती जा रही है, मनुष्य को भय से काँपना चाहिए। इस तरह सारी भौतिक आसक्ति तथा इच्छा त्याग कर, वह भगवान् को समझने लगता है और परम शान्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : बुद्धिमान भक्त जानता है कि दिन-रात बीतने से उसकी आयु समाप्त हो रही है; इसलिए वह भौतिक इन्द्रिय-विषयों से अपनी व्यर्थ की आसक्ति त्याग देता है। इसकी बजाय वह जीवन में स्थायी लाभ पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। जिस तरह विरक्त पक्षी तुरन्त ही अपना घोंसला त्याग कर दूसरे वृक्ष में चला जाता है, उसी तरह भक्त भी जानता है कि भौतिक जगत में निवास का कोई स्थायी अवसर नहीं है। इसलिए वह अपनी कार्यशक्ति को भगवद्धाम में नित्य आवास प्राप्त करने में

लगाता है। कृष्ण के ही आध्यात्मिक स्वभाव को प्राप्त करने से भौतिक गुणों को लॉघ कर भक्त अन्त में परम शान्ति प्राप्त करता है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं  
 प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।  
 मयानुकूलेन नभस्वतेरितं  
 पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

नृ—मानव; देहम्—शरीर; आद्यम्—समस्त अनुकूल फलों का उद्गम; सु-लभम्—बिना प्रयास के प्राप्त; सु-दुर्लभम्—यद्यपि महान् प्रयत्न से भी प्राप्त कर पाना असम्भव है; प्लवम्—नाव; सु-कल्पम्—अपने उद्देश्य के लिए सर्वथा अनुकूल; गुरु—गुरु; कर्ण-धारम्—नाव के माँझी के समान; मया—मेरे द्वारा; अनुकूलेन—अनुकूल; नभस्वता—वायु द्वारा; ईरितम्—बहाई जाकर; पुमान्—पुरुष; भव—संसार के; अब्धिम्—समुद्र; न—नहीं; तरेत्—पार करता है; सः—वह; आत्म-हा—अपनी ही आत्मा का हनन करने वाला, आत्महंता।

जीवन का समस्त लाभ प्रदान करने वाला मानव शरीर प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः प्राप्त होता है यद्यपि यह अत्यन्त दुर्लभ है। इस मानव शरीर की तुलना उस सुनिर्मित नाव से की जा सकती है, जिसका माँझी गुरु है और भगवान् के आदेश वे अनुकूल हवाएँ हैं, जो उसे आगे बढ़ाती हैं। इन सारे लाभों पर विचार करते हुए जो मनुष्य अपने जीवन का उपयोग संसाररूपी सागर को पार करने में नहीं करता, उसे अपने ही आत्मा का हन्ता माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : यह मानव शरीर जो अनेक निम्न योनियों से होता हुआ प्राप्त हुआ है, इस तरह निर्मित हुआ है कि यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर सकता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह भगवान् की सेवा करे। ऐसी सेवा के लिए प्रामाणिक गुरु उपयुक्त मार्गदर्शक है। भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा उस अनुकूल वायु के तुल्य है, जो भगवद्धाम जाने के मार्ग में शरीररूपी नाव को सरलता से बहा ले जाती हैं। भगवान् कृष्ण अपने उपदेश वैदिक वाङ्मय में देते हैं, गुरु के माध्यम से बोलते हैं और अपने निष्ठावान् भक्त को भक्त के हृदय के भीतर से प्रोत्साहित करते हैं, आगाह करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। भगवान् द्वारा ऐसा दयामय मार्गदर्शन निष्ठावान् भक्त को तेजी से भगवद्धाम के पथ पर ले जाता है। किन्तु जो यह नहीं समझ पाता कि मनुष्य शरीर भवसागर को पार करने के लिए उपयुक्त नाव है, उसे गुरु स्वरूप माँझी को स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और वह भगवान् की कृपा रूपी अनुकूल वायु को नहीं समझ पाता। इस तरह उसे मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त



करने का अवसर नहीं मिल पाता। वह आत्महित के विपरीत कर्म करने से धीरे धीरे अपनी ही आत्मा का हन्ता बन जाता है।

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।  
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आरम्भेषु—भौतिक प्रयत्नों में; निर्विण्णः—निराश; विरक्तः—विरक्त; संयत—पूरी तरह नियंत्रित; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; अभ्यासेन—अभ्यास से; आत्मनः—आत्मा का; योगी—योगी; धारयेत्—एकाग्र करे; अचलम्—स्थिर; मनः—मन।

भौतिक सुख के लिए समस्त प्रयासों से ऊब कर तथा निराश होकर, जब योगी इन्द्रियों को पूरी तरह नियंत्रित करके विरक्ति उत्पन्न कर ले, तब उसे आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा अपने मन को अविचल भाव से आध्यात्मिक पद पर स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियतृप्ति का अपरिहार्य फल निराशा तथा हृदयविदारक पीड़ा है। मनुष्य धीरे धीरे निराश तथा जीवन से हताश होने लगता है। तब भगवान् या उनके भक्त से सदुपदेश पाकर वह अपनी भौतिक निराशा को आध्यात्मिक सफलता में परिणत कर लेता है। वस्तुतः, भगवान् कृष्ण हमारे एकमात्र असली मित्र हैं और यह सरल सूझ मनुष्य को भगवान् की संगति में आध्यात्मिक सुख के नये जीवन तक ले जा सकती है।

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदश्चनवस्थितम् ।  
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धार्यमाणम्—आध्यात्मिक पद पर एकाग्र (स्थिर) होकर; मनः—मन; यर्हि—जब; भ्राम्यत्—भटकता है; आशु—सहसा; अनवस्थितम्—आध्यात्मिक पद पर स्थित न होकर; अतन्द्रितः—सावधानीपूर्वक; अनुरोधेन—नियत नियमों के अनुसार; मार्गेण—विधि द्वारा; आत्म—अपने; वशम्—नियंत्रण में; नयेत्—ले आये।

जब भी आध्यात्मिक पद पर एकाग्र मन सहसा अपने आध्यात्मिक पद से भटके, तो मनुष्य को चाहिए कि वह सावधानी से नियत साधनों के सहारे उसे अपने वश में कर ले।

तात्पर्य : यद्यपि मनुष्य अपने मन को गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत में लगाता है, किन्तु मन इतना चंचल है कि उसे अपने आध्यात्मिक पद से सहसा हटाया जा सकता है। तब मनुष्य को चाहिए कि वह सावधानी से मन को अपने वश में लाये। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि अत्यधिक संयमी या अत्यधिक कामुक होने पर मन को वश में नहीं रखा जा सकता। कभी कभी इन्द्रियों को सीमित तुष्टि

प्रदान करके मन को वश में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति संयम से भोजन करता हो तो यदाकदा वह मन्दिर के अर्चा-विग्रहों पर अर्पित होने वाला महाप्रसाद ग्रहण कर सकता है, जिससे मन विचलित नहीं होगा। इसी तरह वह यदाकदा अन्य योगियों के साथ मजाक करके या तैर कर मन बहला सकता है। किन्तु यदि इन कार्यों को प्रचुर मात्रा में किया जाय, तो इससे आध्यात्मिक जीवन में गतिरोध आयेगा। जब मन कोई पापपूर्ण तृप्ति चाहे—यथा अवैध यौन या नशा—तो मनुष्य मन की मूर्खता सह ले और कठिन प्रयास द्वारा कृष्णभावनामृत के साथ आगे बढ़ता जाय। तब मोह की तरंगें शीघ्र शमित हो जायेंगी और प्रगति का पथ खुल जायेगा।

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।

सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन का; गतिम्—लक्ष्य; न—नहीं; विसृजेत्—ओझल होने दे; जित-प्राणः—जिसने श्वास को जीत लिया है; जित-इन्द्रियः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; सत्त्व—सतोगुण का; सम्पन्नया—सम्पन्नता से युक्त; बुद्ध्या—बुद्धि से; मनः—मन; आत्म-वशम्—अपने वश में; नयेत्—लाये।

मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कार्यों के वास्तविक लक्ष्य को दृष्टि से ओझल न होने दे, प्रत्युत प्राण-वायु तथा इन्द्रियों पर विजय पाकर तथा सतोगुण से प्रबलित बुद्धि का उपयोग करके, मन को अपने वश में कर ले।

तात्पर्य : यद्यपि मन आत्म-साक्षात्कार के सीमा-क्षेत्र से सहसा बाहर विचरण कर सकता है, किन्तु सतोगुणी विमल बुद्धि से मन को वश में लाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि मन को सदैव कृष्ण की सेवा में व्यस्त रखा जाय जिससे वह इन्द्रियतृप्ति के भयावह मार्ग में, जिसमें यौन-आकर्षण मुख्य है, विचरण न करे। मन में हर क्षण भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए जब तक मन को गम्भीरतापूर्वक वश में नहीं रखा जाता, तब तक आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर स्थिर होने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

एष वै परमो योगो मनसः सद्ग्रहः स्मृतः ।

हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवावर्ततो मुहुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निस्सन्देह; परमः—परम; योगः—योग-विधि; मनसः—मन का; सङ्ग्रहः—पूर्ण नियंत्रण; स्मृतः—इस प्रकार घोषित; हृदय-ज्ञत्वम्—घनिष्ठतापूर्वक जानने का गुण; अन्विच्छन्—सावधानी से देखते हुए; दम्यस्य—जिसका दमन किया जाना है; इव—सदृश; अर्वतः—घोड़े; मुहुः—सदैव।

एक दक्ष घुड़सवार तेज घोड़े को पालतू बनाने की इच्छा से सर्वप्रथम घोड़े को क्षण-भर उसकी राह चलने देता है, तब लगाम खींच कर धीरे धीरे उसे इच्छित राह पर ले आता है। इसी प्रकार परम योग-विधि वह है, जिससे मनुष्य मन की गतियों तथा इच्छाओं का सावधानी से अवलोकन करता है और क्रमशः उन्हें पूर्ण वश में कर लेता है।

तात्पर्य : जिस तरह दक्ष घुड़सवार अनसधाये घोड़े की मनोवृत्तियों को ठीक से जानते हुए उसे धीरे धीरे अपने वश में ले आता है, उसी तरह दक्ष योगी पहले तो मन को उसकी भौतिकतावादी इच्छाओं को प्रकट होने देता है और तब श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा उसे अपने वश में कर लेता है। विद्वान योगी इन्द्रिय-विषयों को पहले रोक रखता है और फिर उनकी इच्छापूर्ति करता है, जिससे मन तथा इन्द्रियाँ पूरी तरह वश में रहती हैं जैसे घुड़सवार कभी लगाम को कड़ी करता है और कभी ढीली कर लेता है, जिससे घोड़ा स्वतंत्रतापूर्वक दौ सके। घुड़सवार कभी भी अपने वास्तविक लक्ष्य या गन्तव्य को नहीं भूलता और अन्त में घोड़े को सही रास्ते पर ले आता है। इसी तरह विद्वान योगी कभी कभी इन्द्रियों को कर्म करने की छूट देते हुए भी, आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य को कभी नहीं भूलता, न ही इन्द्रियों को पापकर्मों में प्रवृत्त होने देता है। अत्यधिक संयम या नियंत्रण से मानसिक विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है, जिस तरह तेजी से लगाम खींचने पर घोड़ा सवार के विरुद्ध खड़ा हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार मार्ग विमल बुद्धि पर निर्भर करता है और ऐसी दक्षता प्राप्त करने का सबसे सरल तरीका है भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं—

*तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥*

भले ही कोई महान् पंडित या आध्यात्मिक बुद्धिजीवी न हो, किन्तु यदि वह निःस्वार्थ भाव से भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, तो भगवान् हृदय के भीतर से ऐसी विधि प्रकट करते हैं, जो मन को वश में करने के लिए आवश्यक होती है। मन की इच्छारूपी तरंगों पर आरूढ़ होकर कृष्णभावनाभावित व्यक्ति आसन से गिरता नहीं और वह अन्त में भगवद्धाम जा पहुँचता है।

साङ्ख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।  
भवाप्ययावन्ध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

साङ्ख्येन—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; सर्व—समस्त; भावानाम्—भौतिक तत्त्वों ( विराट, पार्थिव तथा सूक्ष्म ) का; प्रतिलोम—उल्टे कार्य द्वारा; अनुलोमतः—अग्रसर कार्य द्वारा; भव—सृष्टि; अप्ययौ—संहार; अनुध्यायेत्—निरन्तर अवलोकन करे; मनः—मन; यावत्—जब तक; प्रसीदति—आध्यात्मिक रूप से तुष्ट नहीं हो जाता ।

जब तक मनुष्य का मन आध्यात्मिक तुष्टि प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे समस्त भौतिक वस्तुओं की नश्वर प्रकृति का, चाहे वे विराट विश्व की हों, पृथ्वी की हों या सूक्ष्म हों, वैश्लेषिक अध्ययन करते रहना चाहिये। उसे सृजन का अनुलोम विधि से और संहार का प्रतिलोम विधि से निरन्तर अवलोकन करना चाहिए।

तात्पर्य : कहावत है कि जो ऊपर उठता है, वह नीचे आता ही है। इसी तरह से *भगवद्गीता* ( २.२७ ) में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।  
तस्माद् परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

“जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः अपने अपरिहार्य कर्तव्य-पालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।” *मनो यावत् प्रसीदति*—जब तक कोई अपनी चेतना को पूर्ण ज्ञान के मुक्त पद पर स्थापित नहीं कर लेता, तब तक उसे प्रकृति के दृढ़ वैश्लेषिक अवलोकन द्वारा माया के वारों को निरन्तर परे रखना चाहिए। भौतिक मन यौन के प्रति आकृष्ट हो सकता है, इसलिए आध्यात्मिक बुद्धि से उसे अपने शरीर के क्षणिक स्वभाव की छानबीन करनी चाहिए और उस शरीर की भी जो किसी की काम-वासना का कृत्रिम लक्ष्य बनता है। वह इस कठोर विश्लेषण को सभी भौतिक शरीरों पर चाहे वह ब्रह्मा का विराट शरीर हो या किसी नगण्य कीटाणु का शरीर हो, लागू करे। जैसाकि भगवान् कृष्ण पहले कह चुके हैं, जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ चुका होता है, वह इन्द्रियतृप्ति से अपने को स्वतः बचाता है और आध्यात्मिक प्रेम द्वारा भगवान् कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को प्राप्त होता है। जिसने कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त नहीं किया, उसे निरन्तर चौकस रहना चाहिए जिससे वह भगवान् की माया द्वारा ठगा न जा सके। जो व्यक्ति माया का दुरुपयोग करना चाहता है, वह अपने आध्यात्मिक जीवन को चौपट कर लेता है और नाना प्रकार के कष्ट पाता है।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।

मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निर्विण्णस्य—भौतिक जगत के मोहमय स्वभाव से ऊबे, उद्विग्न; विरक्तस्य—तथा विरक्त; पुरुषस्य—पुरुष का; उक्त-वेदिनः—अपने गुरु के आदेशों से नियंत्रित व्यक्ति; मनः—मन; त्यजति—त्याग देता है; दौरात्म्यम्—भौतिक शरीर तथा मन से झूठी पहचान; चिन्तितस्य—सोचे हुए का; अनुचिन्तया—निरन्तर विश्लेषण द्वारा।

जब कोई व्यक्ति इस जगत के नश्वर तथा मोहमय स्वभाव से ऊब उठता है और इस तरह उससे विरक्त हो जाता है, तो उसका मन अपने गुरु के आदेशों से मार्गदर्शन पाकर, इस जगत के स्वभाव के बारे में बारम्बार विचार करता है और अन्त में पदार्थ के साथ अपनी झूठी पहचान को त्याग देता है।

तात्पर्य : यद्यपि मन को वश में करना कठिन है किन्तु निरन्तर अभ्यास द्वारा इसे कृष्णभावनाभावित किया जा सकता है। निष्ठावान शिष्य अपने गुरु के आदेशों को लगातार स्मरण रखता है और उसके बल पर वह बारम्बार इस नग्न सत्य का सामना करता है कि यह भौतिक जगत चरम सत्य नहीं है। विरक्ति तथा धैर्य (अनवरत चेष्टा) के द्वारा मन इन्द्रियतृप्ति के प्रति अपनी मनोवृत्ति त्याग देता है; फलस्वरूप, निष्ठावान् कृष्ण-भक्त पर से माया की जकड़ हट जाती है। धीरे धीरे विशुद्ध मन इस जगत से झूठी पहचान को पूरी तरह त्याग देता है और अपना ध्यान आध्यात्मिक पद पर ले जाता है। तभी मनुष्य को योग-विधि में पूर्ण माना जाता है।

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया ।

ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—अनुशासनात्मक नियमों आदि के द्वारा.; योग-पथैः—योग-प्रणाली की विधियों द्वारा; आन्वीक्षिक्या—तर्क द्वारा; च—भी; विद्यया—आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा; मम—मेरी; अर्चा—पूजा; उपासनाभिः—उपासना द्वारा.; वा—अथवा; न—कभी नहीं; अन्यैः—अन्य (साधनों) द्वारा; योग्यम्—ध्यान की वस्तु, भगवान् पर; स्मरेत्—एकाग्र करे; मनः—मन।

मनुष्य को चाहिए कि योग-प्रणाली के विभिन्न यमों तथा संस्कारों द्वारा, तर्क तथा आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा अथवा मेरी पूजा और उपासना द्वारा, योग के लक्ष्य भगवान् के स्मरण में अपने मन को लगाये। इस कार्य के लिए वह अन्य साधनों का प्रयोग न करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में वा शब्द महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बताता है कि जो व्यक्ति भगवान् की

पूजा तथा उपासना में लगा हुआ हो, उसे न तो योग के यम-नियमों में लगने की झंझट उठानी चाहिए न वैदिक अध्ययन तथा तर्क की गुत्थियों में पड़ना चाहिए। योग्यम् तो भगवान् हैं जैसाकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से पुष्टि होती है। जो व्यक्ति सीधे भगवान् की पूजा करता है, उसे अन्य विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवान् पर पूर्ण निर्भरता अपने आप सिद्धि की परम विधि है।

यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।  
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; कुर्यात्—करे; प्रमादेन—उपेक्षा के कारण; योगी—योगी; कर्म—कोई कार्य; विगर्हितम्—निन्दनीय; योगेन—योग-विधि द्वारा; एव—एकमात्र; दहेत्—जला दे; अंहः—वह पाप; न—नहीं; अन्यत्—अन्य साधनों से; तत्र—इस मामले में; कदाचन—कभी भी।

यदि क्षणिक असावधानी से कोई योगी अकस्मात् कोई गर्हित ( निन्दित ) कर्म कर बैठता है, तो उसे चाहिए कि वह योगाभ्यास द्वारा उस पाप को कभी भी किसी अन्य विधि का प्रयोग किए बिना जला डाले।

तात्पर्य : यहाँ पर योगेन शब्द ज्ञानेन योगेन तथा भक्त्या योगेन का सूचक है क्योंकि ये दोनों दिव्य प्रणालियाँ पापकर्मफलों को भस्म करने की शक्ति रखती हैं। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि अंहस् शब्द अपनी इच्छा के विरुद्ध आकस्मिक पतन का सूचक है। भगवान् की दया का पहले से निश्चित किया गया दुरुपयोग कभी भी क्षम्य नहीं है।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भगवान् किसी भी बाह्य शुद्धिकर अनुष्ठान को वर्जित करते हैं क्योंकि दिव्य योग-प्रणालियाँ स्वयं ही अत्यन्त शुद्धिकारी विधियाँ हैं, विशेष करके भक्ति-योग। यदि कोई व्यक्ति पापफल को शुद्ध करने के प्रयास में अपने नियत कर्म त्याग कर विशेष अनुष्ठान या तपस्या करने लगता है, तो उसे अपने नियत कर्म छोड़ने का अतिरिक्त दोष लगेगा। मनुष्य को आकस्मिक पतन से अपने को उठाकर जीवन में अपने नियत कार्यों में पूरे जोर से लग जाना चाहिए और व्यर्थ ही हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को पश्चाताप करना चाहिए और लज्जित होना चाहिए अन्यथा शुद्धि नहीं हो सकती। किन्तु यदि आकस्मिक पतन से कोई व्यक्ति अत्यधिक अवसन्न हो जाता है, तो सिद्धि तक पहुँचने के लिए उसमें उत्साह ही नहीं रहेगा। भगवद्गीता (९.३०) में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्य भाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

“यदि कोई जघन्य से जघन्य भी कर्म करे, परन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए क्योंकि वह उपयुक्त पद पर स्थित है।” सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को भगवान् की भक्ति में ठीक से लगे रहना चाहिए क्योंकि तब भगवान् उसे क्षमा कर देंगे और उसके आकस्मिक पतन को शुद्ध कर देंगे। किन्तु मनुष्य को ऐसी कष्टकर घटना से बचने के लिए अत्यधिक सावधान रहना चाहिए।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।

गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

स्वे स्वे—अपने अपने; अधिकारे—पद पर; या—जो; निष्ठा—स्थायी अभ्यास; सः—वह; गुणः—पुण्य; परिकीर्तितः—ठीक से घोषित; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; जाति—स्वभाव से; अशुद्धानाम्—अशुद्ध; अनेन—इससे; नियमः—अनुशासनात्मक नियंत्रण; कृतः—स्थापित किया जाता है; गुण—पुण्य का; दोष—पाप का; विधानेन—नियम द्वारा; सङ्गानाम्—विभिन्न प्रकार की इन्द्रियतृप्ति की संगति से; त्याजन—विरक्ति की; इच्छया—इच्छा से।

यह दृढ़तापूर्वक घोषित है कि योगियों का अपने अपने आध्यात्मिक पदों पर निरन्तर बने रहना असली पुण्य है और जब कोई योगी अपने नियत कर्तव्य की अवहेलना करता है, तो वह पाप होता है। जो पाप तथा पुण्य के इस मानदण्ड को, इन्द्रियतृप्ति के साथ समस्त पुरानी संगति को सच्चे दिल से त्यागने की इच्छा से अपनाता है, वह भौतिकतावादी कर्मों को वश में कर लेता है, जो स्वभाव से अशुद्ध होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कृष्ण अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे लोग जो ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार में सीधे लगे हुए हैं, उन्हें अपने नियमित कर्तव्यों को छोड़ने तथा आकस्मिक पतन के प्रायश्चित्त करने के लिए विशेष तपस्या करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वैदिक साहित्य का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को भगवद्धाम जाने के लिए दिशा निर्देश करना है, भौतिक इन्द्रियतृप्ति को बढ़ावा देना नहीं। यद्यपि स्वर्गलोक जाने तथा समस्त प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य भोगने के लिए, वेद असंख्य अनुष्ठानों की संस्तुति करते हैं, किन्तु ऐसे भौतिकतावादी फल भौतिकतावादी

लोगों को काम में लगाये रखने के लिए होते हैं, अन्यथा वे असुर बन जाँय। आकस्मिक पतन से शुद्ध होने के लिए योगी को अपने आध्यात्मिक अभ्यास से परे अन्य कोई विधि नहीं अपनानी चाहिए। *संगानां त्याजनेच्छया* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को कृष्णभावनामृत या आत्म-साक्षात्कार का अभ्यास ऊपर ऊपर, या कभी कभी, नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे अपने विगत पापमय जीवन से छूटने के लिए निष्ठापूर्वक कामना करनी चाहिए। इसी तरह *या निष्ठा* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को निरन्तर कृष्णभावनामृत का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अनिवार्य आवश्यक पुण्य इन्द्रियतृप्ति को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगना है। जो व्यक्ति चौबीसों घण्टे भगवान् की सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि लगाता है, वह सबसे पवित्र व्यक्ति है और भगवान् ऐसे शरणागत जीव की स्वयं रक्षा करते हैं।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।

वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥ २७ ॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।

जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदकांश्च गर्हयन् ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

जात—जागृत; श्रद्धः—श्रद्धा; मत्—कथासु—मेरे यश के वर्णनों में; निर्विण्णः—ऊबा हुआ; सर्व—सभी; कर्मसु—कामों में; वेद—जानता है; दुःख—दुख; आत्मकान्—से निर्मित; कामान्—सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति; परित्यागे—परित्याग करने में; अपि—यद्यपि; अनीश्वरः—असमर्थ; ततः—ऐसी श्रद्धा के कारण; भजेत—पूजा करे; माम्—मेरी; प्रीतः—सुखी रहते हुए; श्रद्धालुः—श्रद्धालवान्; दृढ—पक्का; निश्चयः—संकल्प; जुषमाणः—में संलग्न; च—भी; तान्—उन; कामान्—इन्द्रियतृप्ति; दुःख—दुख; उदकां—देने वाले; च—भी; गर्हयन्—के लिए पश्चाताप करते हुए।

मेरे यश की कथाओं में श्रद्धा उत्पन्न करके, सारे भौतिक कार्यों से ऊब कर और यह जानते हुए भी कि सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति दुखदायी है, किन्तु इन्द्रिय-भोग त्याग पाने में असमर्थ, मेरे भक्त को चाहिए कि वह सुखी रहे और अत्यन्त श्रद्धा तथा पूर्ण विश्वास के साथ मेरी पूजा करे। कभी कभी इन्द्रिय-भोग में लगे रहते हुए भी, मेरा भक्त जानता है कि समस्त प्रकार की इन्द्रियतृप्ति का परिणाम दुख है और वह ऐसे कार्यों के लिए सच्चे दिल से पश्चाताप करता है।

तात्पर्य : भगवान् ने यहाँ पर शुद्ध भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन किया है। निष्ठावान् भक्त ने यह जान लिया होता है कि सारे भौतिक कर्म इन्द्रियतृप्ति तक पहुँचते हैं और इन्द्रियतृप्ति से दुख उत्पन्न होता है। इसलिए भक्त की हार्दिक इच्छा चौबीसों घण्टे बिना किसी स्वार्थ के भगवान् कृष्ण की



प्रेमाभक्ति में लगे रहने की होती है। भक्त चाहता है कि वह भगवान् के नित्य सेवक के रूप में अपने स्वाभाविक पद पर पहुँच जाय और इस उच्च पद पर उठाये जाने के लिए वह भगवान् से प्रार्थना करता है। *अनीश्वर* शब्द बताता है कि अपने विगत पापपूर्ण कर्मों तथा बुरी आदतों के कारण, तुरन्त ही भोग की इच्छा को मनुष्य शमित नहीं कर पाता। भगवान् यहाँ पर ऐसे भक्त को अत्यधिक अवसन्न या हताश न होने तथा भक्ति करते रहने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। *निर्विण्ण* शब्द सूचित करता है कि निष्ठावान् भक्त में यद्यपि थोड़ी-बहुत इन्द्रियतृप्ति बची रहती है, किन्तु वह भौतिक जीवन से पूरी तरह ऊबा रहता है और किसी भी परिस्थिति में जान-बूझकर कोई पापकर्म नहीं करता है। वस्तुतः वह हर प्रकार के भौतिकतावादी कर्म से बचता है। *कामान्* शब्द द्योतक है यौन-आकर्षण तथा सन्तान, घर इत्यादि के रूप में गौण उत्पादों का। भौतिक जगत में यौन की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि कभी कभी भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा निष्ठावान् भक्त भी यौन-आकर्षण से, या पत्नी तथा सन्तान के लिए बची हुई भावना से, विचलित हो उठता है। शुद्ध भक्त समस्त जीवों के प्रति, जिसमें तथाकथित पत्नी तथा सन्तानें सम्मिलित हैं, आध्यात्मिक स्नेह रखता है, किन्तु वह जानता है कि शारीरिक आकर्षण से कोई अच्छाई नहीं आती क्योंकि इससे वह तथा उसके पारिवारिकजन कर्मफल की दुखमय शृंखला में बँध जाते हैं। *दृढ-निश्चय* शब्द सूचित करता है कि चाहे जैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, भक्त कृष्ण के हेतु अपने नियत कर्म करने के लिए दृढ-संकल्प रहता है। इस तरह वह सोचता है, “मेरे पूर्व लज्जाजनक जीवन से मेरा हृदय अनेक भ्रामक आसक्तियों से दूषित है। उन्हें अपने आप रोकने की मुझमें कोई शक्ति नहीं है। मेरे हृदय के भीतर स्थित श्रीकृष्ण ही ऐसे अशुभ कल्मष को दूर कर सकते हैं। किन्तु भगवान् चाहे ऐसी आसक्ति को तुरन्त दूर कर दें या इसी तरह मुझे उनसे पीड़ित होते रहने दें, मैं उनकी भक्ति नहीं छोड़ूँगा। भगवान् मेरे रास्ते में लाखों अड़चनें क्यों न डालें और चाहे मैं अपने अपराधों के कारण नरक भी क्यों न जाऊँ, मैं क्षण-भर के लिए भी भगवान् की सेवा करना बन्द नहीं करूँगा। मेरी रुचि मानसिक चिन्तन तथा सकाम कर्मों में नहीं है और यदि साक्षात् ब्रह्मा भी आकर मुझसे यह कहें कि इन कार्यों को करते रहो, तो भी मैं कोई रुचि नहीं दिखलाऊँगा। यद्यपि मैं भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त हूँ, किन्तु मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि इनसे कोई लाभ होने वाला नहीं है क्योंकि वे मुझे केवल कष्ट देती हैं और कृष्ण के प्रति मेरी भक्ति में विघ्न उत्पन्न करती हैं। इसलिए मैं

इतनी सारी भौतिक वस्तुओं के प्रति अपनी मूर्खतापूर्ण आसक्ति के लिए सच्चे दिल से पश्चाताप करता हूँ और मैं धैर्यपूर्वक भगवान् कृष्ण की कृपा की प्रतीक्षा में हूँ।”

प्रीत शब्द सूचित करता है कि भक्त अपने को भगवान् के पुत्र या प्रजा की तरह समझता है और भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध में अत्यधिक आसक्त रहता है। इसलिए इन्द्रिय-भोग में यदाकदा हुई त्रुटियों के लिए पश्चाताप करते हुए भी, वह भगवान् कृष्ण की सेवा करने के अपने उत्साह को कभी त्यागता नहीं। यदि कोई भक्त भक्ति से अत्यधिक खिन्न या हतोत्साहित हो जाता है, तो वह निर्विशेषवादी चेतना की ओर मुड़ सकता है या अपनी भगवद्भक्ति छोड़ सकता है। इसलिए यहाँ पर भगवान् सलाह देते हैं कि कोई भले ही पश्चाताप करे, किन्तु उसे अत्यधिक अवसन्न नहीं होना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि अपने विगत पापों के कारण वह मन तथा इन्द्रियों के उत्पातों से कभी कभी प्रभावित हो सकता है, किन्तु इसीलिए उसे विरक्ति का भक्त नहीं बन जाना चाहिए जैसाकि चिन्तनशील दार्शनिक करते हैं। यद्यपि अपनी भक्ति को शुद्ध करने के लिए मनुष्य विरक्ति चाह सकता है, किन्तु यदि वह भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्म करने की अपेक्षा वैराग्य के प्रति अधिक चिन्ता करता है, तो वह प्रेमाभक्ति के पद को ठीक से समझ नहीं पा रहा है। भगवान् कृष्ण में श्रद्धा इतनी प्रबल होती है कि समय आने पर यह स्वयमेव विरक्ति तथा पूर्ण ज्ञान प्रदान करेगी। यदि भक्त कृष्ण को अपनी पूजा का केन्द्रबिन्दु बनाना त्याग कर ज्ञान तथा विरक्ति पर अधिक ध्यान देता है, तो वह भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग पर की गई प्रगति से विपथ हो जायेगा। भगवान् के निष्ठावान् भक्त को पूरी तरह आश्वस्त होना चाहिए कि अपनी भक्ति के बल पर तथा भगवान् की कृपा के बल पर वह जीवन की हर शुभ वस्तु को प्राप्त कर सकेगा। उसे यह विश्वास करना चाहिए कि कृष्ण सर्व दयामय हैं और वे ही उसके जीवन के एकमात्र असली लक्ष्य हैं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा के साथ इन्द्रिय-भोग त्यागने की सच्ची इच्छा से मनुष्य इस जगत के सारे अवरोधों को पार कर लेगा।

यहाँ पर *जात श्रद्धः मत्कथासु* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् की कृपा तथा महिमा के श्रवण करने से मनुष्य क्रमशः समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जायेगा और हर क्षण इन्द्रियतृप्ति में घोर हताशा देखेगा। दृढ़ विश्वास तथा संकल्प के साथ भगवान् की महिमा का कीर्तन अत्यन्त शक्तिशाली आध्यात्मिक विधि है, जिससे समस्त भौतिक संगति को त्यागा जा सकता है।

भगवद्भक्ति में कुछ भी अशुभ नहीं होता। भक्त को यदाकदा जिन कठिनाइयों का अनुभव करना होता है, वे विगत कर्मों के कारण आती हैं। दूसरी ओर, इन्द्रियतृप्ति का प्रयास सर्वथा अशुभ है। इस तरह इन्द्रियतृप्ति तथा भक्ति एक-दूसरे के विपरीत हैं। अतएव सभी परिस्थितियों में मनुष्य को भगवान् की कृपा पर सदैव विश्वास रखते हुए, निष्ठावान् सेवक बने रहना चाहिए। तभी वह निश्चित रूप से भगवद्धाम जा सकेगा।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।

कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

प्रोक्तेन—कही गई; भक्ति-योगेन—भक्ति द्वारा; भजतः—पूजा करते हुए; मा—मुझको; असकृत्—निरन्तर; मुनेः—मुनि की; कामाः—भौतिक इच्छाएँ; हृदय्याः—हृदय में; नश्यन्ति—नष्ट हो जाती हैं; सर्वे—सभी; मयि—मुझमें; हृदि—जब हृदय; स्थिते—दृढ़ता से स्थित है।

जब बुद्धिमान व्यक्ति मेरे द्वारा बताई गई प्रेमाभक्ति के द्वारा निरन्तर मेरी पूजा करने में लग जाता है, तो उसका हृदय दृढ़तापूर्वक मुझ में स्थित हो जाता है। इस तरह उसके हृदय के भीतर की सारी भौतिक इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियाँ मनोरथों को पूरा करने में लगी रहती हैं और एक के बाद एक अनेक प्रकार की इच्छाओं को प्रबल बनाती हैं। जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य महिमा के, पूरी श्रद्धा से श्रवण और कीर्तन के द्वारा, भगवद्भक्ति में निरन्तर लगा रहता है, वह इन भौतिक इच्छाओं की परेशानी से छुटकारा पा जाता है। भगवान् की सेवा करने से उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि श्रीकृष्ण ही असली भोक्ता हैं और अन्य सारे लोग भक्ति द्वारा भगवान् की प्रसन्नता में हाथ बँटाने के लिए हैं। भगवद्भक्त श्रीकृष्ण को अपने हृदय के सिंहासन पर बिठाकर निरन्तर सेवा करता रहता है। जिस तरह उदय होने वाला सूर्य धीरे धीरे सारे अंधकार को दूर कर देता है, उसी तरह हृदय के भीतर भगवान् की उपस्थिति से सारी भौतिक इच्छाएँ क्रमशः क्षीण होकर लुप्त हो जाती हैं। मयि हृदि स्थिते शब्दावली बताती है कि महान् भक्त भगवान् कृष्ण को न केवल अपने हृदय के भीतर देखता है, अपितु सारे जीवों के हृदयों में देखता है। इस तरह श्रीकृष्ण की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने वाले निष्ठावान् भक्त को हृदय में अवशिष्ट भौतिक इच्छाओं से निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। उसे श्रद्धापूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब भक्ति सहज ही हृदय में सारे कल्मष को धो देगी।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भिद्यते—टूट कर, छेद कर; हृदय—हृदय; ग्रन्थिः—गाँठें; छिद्यन्ते—खण्ड खण्ड कर; सर्व—सभी; संशयाः—आशंकाएँ;  
क्षीयन्ते—समाप्त हो जाती हैं; च—तथा; अस्य—उसके; कर्माणि—कर्मों की शृंखला; मयि—जब मैं; दृष्टे—दिखता हूँ;  
अखिल-आत्मनि—भगवान् के रूप में।

जब मैं उसे भगवान् के रूप में दिखता हूँ, तो उसके हृदय की गाँठ खुल जाती है, सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा सकाम कर्मों की शृंखला समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : हृदय-ग्रन्थि शब्द सूचित करता है कि मनुष्य का हृदय भौतिक शरीर के साथ झूठी पहचान के द्वारा मोह से बँधा रहता है। इस तरह मनुष्य असंख्य प्रकार से स्त्री-पुरुष के शारीरिक संयोग के स्वप्न देखते हुए भौतिक यौन-सुख में लीन रहता है। यौन-आकर्षण के नशे में ग्रस्त मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि भगवान् ही समस्त सुख के आगार तथा परम भोक्ता हैं। जब भक्त भगवान् की प्रेमाभक्ति करते हुए, हर क्षण दिव्य आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी भक्ति में स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तो झूठी पहचान की गाँठ खुल जाती है और उसके सारे संशय छिन्न हो जाते हैं। मोह में हम कल्पना करते हैं कि जीव बिना इन्द्रियतृप्ति के तथा परब्रह्म के विषय में चिन्तनपरक संशय के बिना, पूर्ण रूप से तृप्त नहीं हो सकता। भौतिकतावादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति तथा चिन्तनपरक संशय को सभ्य जीवन के लिए अनिवार्य समझते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि भगवान् कृष्ण सुख के अथाह सागर एवं साक्षात् ज्ञान हैं। भगवान् कृष्ण विषयक यह अनुभूति इन्द्रियतृप्ति तथा मानसिक चिन्तन की युग्म प्रवृत्तियों को समूल नष्ट कर देती है। इस तरह कर्म उसी तरह स्वतः समाप्त हो जाता है, जिस तरह ईंधन हटा लेने पर अग्नि बुझ जाती है।

उच्च भक्ति मनुष्य को भव-बन्धन से स्वयमेव मोक्ष दिलाती है जैसाकि भगवान् कपिल ने पुष्टि की है : जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा—“भक्ति जीव के सूक्ष्म शरीर को बिना किसी पृथक् प्रयास के विलीन कर देती है, जिस तरह जठराग्नि सभी प्रकार के भोजन को पचा देती है” (भागवत ३.२५.३३) श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक के तात्पर्य में कहा है “भक्त को मोक्ष पाने के लिए अलग से प्रयास नहीं करना होता। भगवान् की सेवा ही मोक्ष की विधि है क्योंकि भगवान् की सेवा में अपने को लगाना भौतिक बन्धन से अपने को छुड़ाना है। श्री बिल्वमंगल ठाकुर ने इस स्थिति की बहुत सुन्दर

व्याख्या की है। उन्होंने कहा है, “यदि भगवान् के चरणकमलों में मेरी अचल भक्ति है, तो मुक्ति तो मेरी दासी की तरह सेवा करती है। मैं जो कुछ भी कहता हूँ उसे करने के लिए यह मुक्ति दासी सदा तैयार रहती है।” भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या नहीं है। वह पृथक् प्रयास के बिना ही प्राप्त हो जाती है।”

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; मत्-भक्ति-युक्तस्य—मेरी प्रेमाभक्ति में लगे रहने वाले का; योगिनः—भक्त का; वै—निश्चय ही; मत्-आत्मनः—जिसका मन मुझ में स्थिर है; न—नहीं; ज्ञानम्—ज्ञान का अनुशीलन; न—न तो; च—भी; वैराग्यम्—वैराग्य का अनुशीलन; प्रायः—सामान्यतया; श्रेयः—सिद्धि प्राप्त करने के साधन; भवेत्—होए; इह—इस जगत में।

इसलिए वह भक्त जो मुझ पर अपना मन स्थिर करके मेरी प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, उसके लिए ज्ञान का अनुशीलन तथा वैराग्य सामान्यतया इस जगत में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के साधन नहीं हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण का शरणागत भक्त भगवद्भक्ति के बाहर ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य के माध्यम से सिद्धि नहीं खोजता। कृष्ण-भक्ति स्वयं ही परम दिव्य विधि होने से, ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य से युक्त गौण विधियों पर कभी आश्रित नहीं रहती। भक्त भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा श्रवण से स्वतः सारा ज्ञान प्राप्त करता है और ज्यों ज्यों भगवान् की ओर यह आसक्ति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों वह निम्न प्रकृति के प्रति आसक्ति को त्यागता जाता है। पिछले श्लोकों में भगवान् ने स्पष्ट घोषित किया है कि भक्त को अपने मन में घर करने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भक्ति के अलावा अन्य साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यद्यपि निष्ठावान् भक्त भगवान् को आत्मसमर्पण कर चुका होता है, किन्तु कुछ भौतिक आसक्तियाँ अवशेष रह सकती हैं, जो उसे सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त करने से रोकती हैं। किन्तु भक्ति समय आने पर स्वतः ऐसी अवशिष्ट आसक्तियों को समूल नष्ट कर देगी। यदि भक्त ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य द्वारा अपने को शुद्ध बनाना चाहता है, जो भक्ति की सीमा के बाहर हैं, तो भगवान् के चरणकमलों से उसके दूर चले जाने और दिव्य पथ से च्युत होने का खतरा रहता है। जो व्यक्ति भगवद्भक्ति के बाहर शुद्धि का प्रयास करता है, वह वास्तव में भक्तियोग की दिव्य शक्ति को ठीक से पहचानता नहीं और भगवान् कृष्ण की अपार दया को नहीं

समझता है।

इस जगत में मनुष्य का हृदय यौन-आकर्षण से बँधा है, जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में व्यतिक्रम उत्पन्न करता है। स्त्रियों से सम्पर्क से मदोन्मत्त होकर बद्धजीव गर्वित हो उठता है और भगवान् के प्रति अपनी प्रेममयी सेवकाई भूल जाता है। ज्ञान के निश्चय अनुशीलन तथा वैराग्य से बद्धजीव भगवत्कृपा के बिना ही अपने को शुद्ध करने का प्रयास कर सकता है किन्तु ऐसे मिथ्या अभिमान का परित्याग होना चाहिए जिस तरह कि भौतिक आकर्षण के मिथ्या अभिमान का परित्याग करना होता है। जब बद्धजीव को शुद्ध भगवद्भक्ति उपलब्ध हो, तो अन्य विधियों के प्रति आकर्षण उसके भक्तिमय जीवन से विपथन है। हृदय के भीतर दृढ़ रूप से वास करने वाली भौतिक इच्छा को भगवान् की शरण लेकर ही नष्ट किया जा सकता है। मनुष्य को ज्ञान के अनुशीलन तथा वैराग्य पर झूठा विश्वास न करके, पूरी तरह भगवान् कृष्ण की कृपा पर निर्भर रहना चाहिए और उसी के साथ साथ भगवान् द्वारा उपदेश दिये गये भक्तियोग के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करना चाहिए।

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।

योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥ ३२ ॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।

स्वर्गापवर्गं मद्भाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो प्राप्त किया जाता है; कर्मभिः—सकाम कर्म द्वारा; यत्—जो; तपसा—तपस्या से; ज्ञान—ज्ञान के अनुशीलन से; वैराग्यतः—वैराग्य से; च—भी; यत्—जो प्राप्त किया जाता है; योगेन—योग-प्रणाली द्वारा; दान—दान से; धर्मेण—धार्मिक कार्यों से; श्रेयोभिः—जीवन को शुभ बनाने की विधियों से; इतरैः—अन्यों द्वारा; अपि—निस्सन्देह; सर्वम्—समस्त; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी प्रेमाभक्ति द्वारा; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; लभते—प्राप्त करता है; अञ्जसा—अनायास; स्वर्गं—स्वर्ग जाना; अपवर्गम्—सारे कष्ट से मोक्ष; मत्-धाम—मेरे धाम में निवास; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह; यदि—यदि; वाञ्छति—चाहता है।

इन सारी वस्तुओं को जो सकाम कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा जीवन को पूर्ण बनाने वाले अन्य सारे साधनों से प्राप्त की जाती हैं, मेरा भक्त मेरे प्रति भक्ति से अनायास प्राप्त कर लेता है। यदि मेरा भक्त किसी न किसी तरह स्वर्ग जाने, मोक्ष या मेरे धाम में निवास करने की इच्छा करता है, तो वह ऐसे वर सरलता से प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर भगवद्भक्ति की महिमा प्रकट करते हैं। यद्यपि शुद्ध भक्तजन निष्काम होते हैं और एकमात्र भगवान् की सेवा करने की इच्छा करते हैं, किन्तु कभी कभी महान् भक्त

भक्ति को सुगम बनाने के लिए भगवान् का वर चाह सकता है। *भागवत* के छोटे स्कन्ध में हम देखते हैं कि भगवद्भक्त चित्रकेतु ने स्वर्ग जाना चाहा था जिससे विद्याधर लोक की सुन्दरियों के साथ वह भगवान् की महिमा का सुन्दर ढंग से कीर्तन कर सके। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* के परम कथाकार, श्री शुकदेव गोस्वामी, भगवान् की मायाशक्ति के पाश से बचने के लिए अपनी माता के गर्भ से बाहर नहीं आना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, शुकदेव गोस्वामी *अपवर्गम्* अर्थात् माया से मोक्ष चाहते थे जिससे उनकी भक्ति में अवरोध न उत्पन्न हो। अतः भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही माया को दूर भेज दिया जिससे शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ से बाहर आयें। भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने की गहन प्रेममयी इच्छा से भक्त वैकुण्ठ-लोक भी जाना चाह सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, भक्त जब ज्ञान का स्वतंत्र अनुशीलन तथा वैराग्य त्याग देता है, तो भगवद्भक्ति में उसकी अविचल श्रद्धा हो सकती है और साथ ही वह ऐसे कार्यों के फल के प्रति थोड़ा-बहुत आसक्त रह सकता है। दक्ष सकाम कर्मों के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग का निवास उपलब्ध होता है और वह वैराग्य के अनुशीलन से समस्त शारीरिक कष्ट से छुटकारा पा जाता है। यदि भगवान् कृष्ण भक्त के हृदय में ऐसे वर की इच्छा का पता लगा लेते हैं, तो वे अपने भक्त को वह वरदान आसानी से दे सकते हैं।

इस श्लोक में *इतरै* शब्द तीर्थस्थानों में जाने, धार्मिक व्रत रखने इत्यादि का सूचक है। इस श्लोक के पूर्व वाले श्लोक में ऊपर उठने की कई शुभ विधियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु इन सारी विधियों के शुभ फलों को भगवद्भक्ति से सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह सारे भगवद्भक्तों को, चाहे वे प्रगति की जिस अवस्था में हों, अपनी सारी शक्ति एकमात्र भगवान् की सेवा में लगानी चाहिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेव गोस्वामी ने पुष्टि की है—

*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।*

*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम ॥*

“उदार बुद्धि वाले व्यक्ति को, चाहे वह भौतिक इच्छा से पूर्ण हो, चाहे किसी भौतिक इच्छा से रहित हो, या मोक्ष चाहने वाला हो, सभी साधनों से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।”

(भागवत २.३.१०)

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।  
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; साधवः—सन्त पुरुष; धीराः—गहन बुद्धि से; भक्ताः—भक्तगण; हि—निश्चय ही; एकान्तिनः—पूर्णतया विरक्त; मम—मुझको; वाञ्छन्ति—चाहते हैं; अपि—निस्सन्देह; मया—मेरे द्वारा; दत्तम्—दिया हुआ; कैवल्यम्—मोक्ष; अपुनः—भवम्—जन्म तथा मृत्यु से छुटकारा।

चूँकि मेरे भक्तगण साधु आचरण के तथा गम्भीर बुद्धि वाले होते हैं, इसलिए वे अपने आप को पूरी तरह मुझमें समर्पित कर देते हैं और मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते। यहाँ तक कि यदि मैं उन्हें जन्म-मृत्यु से मुक्ति भी प्रदान करता हूँ, तो वे इसे स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य : एकान्तिनो मम शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के शुद्ध भक्त सन्त स्वभाव के तथा अत्यन्त बुद्धिमान होने से अपने आप को केवल भगवद्भक्ति में अर्पित कर देते हैं। यहाँ तक कि जब भगवान् उन्हें जन्म-मृत्यु से मुक्ति प्रदान करते हैं, तो वे उसे स्वीकार नहीं करते। शुद्ध भक्त स्वतः भगवान् के धाम में आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन प्राप्त करता है और भगवद्भक्ति के बिना केवल मुक्ति को अत्यन्त गर्हित मानता है। जो कोई कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है या निर्विशेष मोक्ष या भौतिक इन्द्रियतृप्ति प्राप्त करने के मन्तव्य से, ऊपरी तौर पर भगवान् की सेवा करता है उसे दिव्य भगवद्भक्त नहीं कहा जा सकता। जब तक मनुष्य सांसारिक धार्मिकता, अर्थ, काम या मोक्ष की इच्छा करता है, तब तक वह समाधि पद या पूर्ण आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं कर सकता। हर जीव वास्तव में कृष्ण का नित्य दास है और निजी इच्छा से रहित होकर स्वाभावतः कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगने के लिए है। इस श्लोक में जीवन के इस शुद्ध तथा परम पद का वर्णन स्वयं भगवान् ने किया है।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।  
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

नैरपेक्ष्यम्—भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी न चाहने वाला; परम्—सर्वश्रेष्ठ; प्राहुः—कहा जाता है; निःश्रेयसम्—मोक्ष की सर्वोच्च अवस्था; अनल्पकम्—महान्; तस्मात्—इसलिए; निराशिषः—निजी लाभ न चाहने वाले की; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; निरपेक्षस्य—मुझे ही देखने वाले का; मे—मुझ तक; भवेत्—उठ सकता है।

कहा जाता है कि पूर्ण विरक्ति स्वतंत्रता की सर्वोच्च अवस्था है। इसलिए जिसकी कोई निजी इच्छा नहीं होती और जो निजी लाभ के पीछे नहीं भागता, वह मेरी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर



सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत (२.३.१०) में कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

“जिस व्यक्ति की बुद्धि उदार है, वह चाहे समस्त इच्छाओं से पूर्ण हो, चाहे किसी इच्छा से रहित हो, या मोक्ष की इच्छा करता हो, उसे सभी तरह से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।”

शुकदेव गोस्वामी के इस कथन में तीव्रेण भक्तियोगेन शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टिप्पणी है “जिस प्रकार शुद्ध सूर्य की किरण अत्यन्त शक्तिशाली होती है और इसीलिए तीव्र कहलाती है उसी तरह श्रवण, कीर्तन इत्यादि के शुद्ध भक्ति-योग को कोई भी सम्पन्न कर सकता है चाहे उसका आन्तरिक मन्तव्य जो भी हो।” निस्सन्देह इस कलियुग में लोग सामान्य रूप से अत्यन्त पतित हैं और भौतिक काम, लोभ, क्रोध, शोक इत्यादि से दूषित हैं। इस युग में अधिकांश लोग सर्वकाम हैं अर्थात् भौतिक इच्छाओं से पूर्ण हैं। तो भी हम यह समझ लें कि मात्र भगवान् कृष्ण की शरण लेने से हम जीवन में हर वस्तु प्राप्त कर सकेंगे। जीव को भगवद्भक्ति के अलावा अन्य किसी विधि में नहीं लगना चाहिए। उसे यह स्वीकार करना होगा कि भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और हमारे भीतर स्थित भगवान् कृष्ण ही हमारी असली इच्छा पूरी कर सकते हैं। यह कोरा विश्वास कि भगवान् कृष्ण के पास जाकर मनुष्य हर चीज प्राप्त कर सकता है, समस्त ज्ञान का सार है और यह पतित व्यक्ति को भी इस कठिन युग की कष्टप्रद बाधाओं से बाहर ले जाता है।

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।

साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मयि—मुझमें; एक-अन्त—शुद्ध; भक्तानाम्—भक्तों का; गुण—अच्छे के रूप में संस्तुत; दोष—अनुपयुक्त के रूप में वर्जित; उद्भवाः—ऐसी वस्तुओं से उत्पन्न; गुणाः—पाप तथा पुण्य; साधूनाम्—भौतिक लालसाओं से मुक्त लोगों के; सम-चित्तानाम्—सभी परिस्थितियों में स्थिर आध्यात्मिक चेतना बनाये रखने वालों के; बुद्धेः—भौतिक बुद्धि से समझा जा सकने वाला; परम्—परे; उपेयुषाम्—प्राप्त कर लेने वालों के।

इस जगत के अच्छे तथा बुरे से उत्पन्न भौतिक पुण्य तथा पाप मेरे शुद्ध भक्तों के अन्तःकरण

में नहीं रह सकते क्योंकि वे भौतिक लालसा से मुक्त होने के कारण सभी परिस्थितियों में आध्यात्मिक चेतना स्थिर बनाये रखते हैं। निस्सन्देह, ऐसे भक्तों ने भौतिक बुद्धि से अतीत मुझ भगवान् को पा लिया है।

तात्पर्य : बुद्धेः परम् शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के दिव्य गुणों में लीन रहने वाले शुद्ध भक्त के भीतर प्रकृति के गुण नहीं पाये जा सकते। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि शुद्ध भक्त को निजी इच्छाओं से पूर्ण विरक्ति के द्वारा पहचाना जाता है। अतः भगवान् कृष्ण की निष्काम सेवा में निरन्तर लगा रहने वाला शुद्ध भक्त असंख्य वैदिक अनुष्ठानों तथा नियमों को सदैव नहीं मान सकता। इस तरह की कभी कभी होने वाली असावधानी को अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं माना जा सकता। इसी तरह सामान्य भौतिक शुद्धता को भी शरणागत जीव की परम योग्यता नहीं माना जा सकता। कृष्ण-प्रेम तथा भगवान् की इच्छा के समक्ष पूर्ण समर्पण से वह तुरन्त दिव्य पद तक उठ जायेगा जहाँ पर भगवान् के लिए सम्पन्न सारे कार्य परम पूर्ण होते हैं और ईश्वरेच्छा की अभिव्यक्ति होते हैं। कभी कभी सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति यह झूठा दावा करते हैं कि उनके मनमाने अनैतिक कार्यों से यह उच्च पद उन्हें प्राप्त हुआ है और इस तरह समाज में उत्पात मचाते हैं। किन्तु जिस तरह सामान्य व्यक्ति को किसी राष्ट्र-नेता के निजी सचिव के अधिकार प्राप्त होने का झूठा दावा नहीं करना चाहिए, उसी तरह सामान्य बद्धजीव को मूर्खतापूर्वक यह दावा नहीं करना चाहिए कि उसके अनैतिक, मनमाने कार्यों को ईश्वर की इच्छा होने के कारण ईश्वर का संरक्षण मिला है। मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त होना चाहिए, उसे साक्षात् भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त होना चाहिए और भगवान् की इच्छा के समक्ष पूर्णतया आत्मसमर्पण करना चाहिए तभी वह सामान्य पाप-पुण्य से परे माना जा सकेगा।

ऐसे उदाहरण हैं जिनमें उच्च भक्तगण भक्ति के सन्तमय पद से कुछ काल के लिए च्युत हुए हैं।

भगवद्गीता (९.३०) में भगवान् उपदेश देते हैं—

*अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् ।*

*साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः ॥*

भगवद्भक्त के क्षणिक पतन से ऐसे व्यक्ति के प्रति भगवान् की भावनाएँ बदलती नहीं। सामान्य माता-पिता तक अपनी सन्तान के द्वारा किये गये क्षणिक उल्लंघन को क्षमा कर देते हैं। जिस तरह

सन्तान तथा माता-पिता परस्पर प्रेम करते हैं, उसी तरह भगवान् के शरणागत दास भगवान् के साथ प्रेम-सम्बन्ध का आनन्द लूटते हैं। जिसकी पूर्व कल्पना न की गई हो, ऐसे आकस्मिक पतन को भगवान् तुरन्त क्षमा कर देते हैं। समाज के सारे सदस्यों को भगवान् का ही अनुकरण करना चाहिए। आकस्मिक पतन के कारण उच्च भक्त पर भौतिकतावादी या पापी का बिल्ला नहीं लग जाना चाहिए। भक्त तुरन्त ही सन्त जैसी सेवा करने लगता है और भगवान् से क्षमा माँगता है। किन्तु जो स्थायी रूप से पतितवस्था में बना रहता है, उसे भगवान् का उच्च भक्त नहीं स्वीकार किया जा सकता।

एवमेतान्मया दिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।

क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; एतान्—ये; मया—मेरे द्वारा; दिष्टान्—आदेश दिये; अनुतिष्ठन्ति—पालन करते हैं; मे—मुझको; पथः—प्राप्त करने का साधन; क्षेमम्—मोह से छुटकारा; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; मत्-स्थानम्—मेरा धाम; यत्—जो; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; विदुः—जानते हैं।

जो लोग मेरे द्वारा सिखलाये गये, मुझे प्राप्त करने के इन नियमों का गम्भीरता से पालन करते हैं, वे मोह से छुटकारा पा लेते हैं और मेरे धाम में पहुँचने पर वे परब्रह्म को भलीभाँति समझते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “शुद्ध भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य से आगे है” नामक बीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।